Gyanvividha, Vol.-2; Issue-2 (Apr.-June) 2025 : PP-143-149

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-2.25
Vol.-2; Issue-2 (Apr.-June) 2025
Page No.- 143-149
©2025 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

Dr. Sumit kumar
sr. Assistant professor,
Department of philosophy, S.M. College, Bhagalpur, TMBU.

Corresponding Author :

Dr. Sumit kumar
sr. Assistant professor,
Department of philosophy, S.M. College, Bhagalpur, TMBU.

कर्म सिद्धांत और नैतिक उत्तरदायित्व : आधुनिक संदर्भ में पुनर्व्याख्या

सारांश : यह शोधपत्र भारतीय दर्शन में कर्म सिद्धांत और नैतिक उत्तरदायित्व के पारस्परिक संबंध का दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इसमें कर्म सिद्धांत की पारम्परिक अवधारणा और नैतिक उत्तरदायित्व की अवधारणा को परिभाषित कर आधुनिक संदर्भ में उनके पुनर्व्याख्या के आयामों पर चर्चा की गई है। प्राचीन भारतीय ग्रंथों – उपनिषदों, भगवद्गीता आदि – के मूल उद्धरणों के माध्यम से सिद्ध होता है कि कर्म का सिद्धांत प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्मों के नैतिक फल का स्वयं वाहक ठहराता है। आधुनिक युग में इस सिद्धांत की पुनर्व्याख्या करते हुए दिखाया गया है कि कर्म सिद्धांत भाग्यवाद नहीं बल्कि नैतिक कारण-कार्य का ऐसा नियम है जो व्यक्तिगत उत्तरदायित्व एवं नैतिक स्वतंत्रता पर बल देता है। अतः यह सिद्धांत आज के नैतिक दायित्व तथा नैतिक निर्णयों के विमर्श में एक दार्शनिक सेतु का कार्य कर सकता है।

मुख्य शब्द : कर्म सिद्धांत, नैतिक उत्तरदायित्व, आधुनिक संदर्भ, भारतीय दर्शन, पुनर्व्याख्या।

1. परिचय : कर्म सिद्धांत भारतीय दर्शन की मूल अवधारणा है, जो यह प्रतिपादित करती है कि प्रत्येक कर्म का निश्चित फल होता है और वह फल कर्म करने वाले को ही भोगना पड़ता है। भारतीय दार्शनिक परंपरा में (चार्वाक को छोड़कर) लगभग सभी दर्शनों ने पुनर्जन्म के साथ जुड़ी कर्म की सिद्धांत को स्वीकार किया है, चाहे वे आस्तिक वैदिक परंपराएं हों या जैन-बौद्ध जैसी श्रमण परंपराएं (चक्रवर्ती 45; शर्मा 212)। कर्म शब्द संस्कृत क्रिया-धातु "कृ" से बना है जिसका अर्थ "करना" या "क्रिया" है, और दर्शनशास्त्र में इससे तात्पर्य व्यक्ति के शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक सभी प्रकार के सचेतन कर्मों से है। दार्शनिक दृष्टि से कर्म सिद्धांत मनुष्य के **कर्म-फल** (एक नैतिक कारण-कार्य संबंध) को

समझने का सर्वाधिक सुनियोजित प्रयास है, जो मानव आचरण, नैतिक उत्तरदायित्व एवं लौकिक व्यवस्था (ऋत) के संबंध को व्याख्यायित करता है। इस सिद्धांत के अनुसार नैतिक जगत में संयोग या अनियमितता नहीं है, बल्कि नैतिक घटनाक्रम कारण एवं परिणाम के एक नियम से बंधा है।

वहीं **नैतिक उत्तरदायित्व** से आशय उस दायित्व से है जिसके अनुसार व्यक्ति अपने कर्मों के नैतिक परिणामों के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता है। नैतिक उत्तरदायित्व का प्रश्न मूलतः यह पूछता है कि क्या किसी व्यक्ति को उसके कर्म के लिए नैतिक रूप से प्रशंसा, दोष या दंड दिया जाना उचित है। पाश्चात्य दर्शन में नैतिक उत्तरदायित्व की चर्चा प्रायः **स्वतंत्र इच्छाशक्ति** और नैतिक **कर्तृत्व** के संदर्भ में होती है – यदि व्यक्ति ने किसी कर्म को स्वतंत्र रूप से चुना है, तभी वह उसके परिणामों के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। भारतीय दर्शन में स्वतंत्र इच्छा और नियति के बीच संतुलन की समस्या को कर्म सिद्धांत के माध्यम से संबोधित किया गया है। कर्म-सिद्धांत यह सुनिश्चित करता है कि प्रत्येक आत्मा अपने शुभ-अशुभ कर्मों का फल स्वयं भोगती है – अतः नैतिक उत्तरदायित्व व्यक्तिवाची है। उदाहरण के लिए, एक आधुनिक विश्लेषण में कहा गया है कि कर्म भाग्यवाद नहीं है, बल्कि नैतिक कारण और परिणाम का नियम है जो **व्यक्तिगत उत्तरदायित्व** और **स्वतंत्र इच्छा** पर ज़ोर देता है। इसी प्रकार भारतीय दर्शन के अनेक मतों में यह स्पष्ट माना गया है कि मनुष्य अपने कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है – वह जैसा कर्म करेगा वैसा फल अवश्य पाएगा। इस शोध में आगे हम यही देखते हैं कि किस प्रकार पारम्परिक भारतीय दर्शन में कर्म के सिद्धांत ने नैतिक उत्तरदायित्व की अवधारणा को आकार दिया, तथा आधुनिक संदर्भ में इस सिद्धांत की क्या प्रासंगिकता और पुनर्व्याख्या हो सकती है।

2. भारतीय दर्शन में कर्म सिद्धांत की पारम्परिक अवधारणा : प्राचीन भारतीय ग्रंथों में कर्म-सिद्धांत का प्रारम्भ उपनिषदों के काल से माना जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् (लगभग 8वीं-7वीं सदी ईसा पूर्व) में याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट कहा है: "यथाचारी तथा भवति। साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति। पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन" – अर्थात व्यक्ति जैसा आचरण करता है वैसा ही बन जाता है; शुभ कर्म करने वाला शुभ (पुण्यात्मा) हो जाता है और पाप कर्म करने वाला पापी हो जाता है; मनुष्य पुण्य कर्मों द्वारा पुण्यवान बनता है और पाप कर्मों द्वारा पापात्मा। उपनिषदों में प्रतिपादित यही सिद्धांत आगे चलकर समस्त दर्शन-परंपराओं (सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा, वेदान्त) में विविध रूपों में स्वीकार किया गया। कठोपनिषद् में कहा गया – "योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः; स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्" – अर्थात जीव अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार कभी उत्तम योनियों में जन्म लेता है तो कभी निम्न अवस्थाओं (जड़ स्थावर) में चला जाता है। इन श्रुतियों ने पुनर्जन्म (पुनरावृत्ति) और कर्मफल के सम्बन्ध को दृढ़ता से स्थापित किया।

हिंदू दर्शन की आस्तिक धाराओं में कर्म सिद्धांत को ईश्वर की न्यायव्यवस्था से जोड़ा गया, किन्तु यह ईश्वरीय निर्णय नहीं बल्कि स्वयं कर्मों का नैतिक नियम माना गया। मनु स्मृति से लेकर भगवद्गीता तक सभी ग्रंथों ने कहा है कि **कर्म का फल अटल है और व्यक्ति उससे बच नहीं सकता**, चाहे दैवी सत्ता कर्मफल प्रदान करने का माध्यम बने। न्याय-वैशेषिक दर्शन में ईश्वर को कर्मफल का दाता अवश्य माना गया, पर स्पष्ट रूप से कहा गया कि सृष्टि के सुख-दुःख के मूल में ईश्वर नहीं, प्राणी के पूर्वकृत कर्म ही हैं (नैयायिक मत में "कर्म सदा फलप्रद है")। इसी प्रकार जैन दर्शन में तो ईश्वर का निषेध करके कर्म को ही दण्ड-विधान का स्वयंसिद्ध प्राकृतिक नियम माना गया – जैन आचार्यों ने कर्म को सूक्ष्म भौतिक कणों का रूपक देते हुए समझाया कि अच्छे-बुरे कर्म आत्मा के साथ बंध जाते हैं और आत्मा को आवरण तथा बंधन में डाल देते हैं। जैन ग्रंथों के अनुसार **कर्म**

एक अपरिहार्य प्राकृतिक न्याय है जो स्वयं फल प्रदान करता है, किसी ईश्वर या बाहरी न्यायाधीश की आवश्यकता नहीं (कर्म **"अपरत्व"** सिद्धांत)। इस प्रकार जैन मत में भी पूर्ण नैतिक उत्तरदायित्व जीव पर ही आता है – कर्म का सिद्धांत व्यक्ति पर पूर्ण जिम्मेदारी डालता है और किसी दैवी अनुकंपा या दंड पर निर्भर नहीं रहने देता। बौद्ध दर्शन में कर्म को नैतिक सिद्धांत के रूप में स्वीकारते हुए आत्मा की स्थायी सत्ता से इन्कार किया गया, परंतु वहां भी यह माना गया कि किसी प्राणी की वर्तमान अवस्था उसके पूर्वकृत चेतन कर्मों का परिणाम है और **प्रत्येक प्राणी अपने कर्मों का अधिकारी है** (बुद्ध के शब्दों में: "अपने द्वारा बुरा किया गया, अपने द्वारा ही व्यक्ति कलुषित होता है; अपने द्वारा बुरा न करने पर स्वयं शुद्ध होता है" – धम्मपद, श्लोक 165)। इस प्रकार, आत्मा हो या न हो, कर्म के नैतिक नियम से कोई नहीं बच सकता – यह नैतिक विश्वव्यापी नियम है।

सारतः भारतीय दर्शन में कर्म-सिद्धांत एक **नैतिक न्याय** का सिद्धांत है। यह सिद्धांत जन्म-जन्मांतर के प्रसंग में कार्य करता है, जिसके अनुसार वर्तमान जीवन पूर्व जन्म के कर्मों का फल है और भविष्य का जीवन वर्तमान कर्मों पर निर्भर होगा। इसीलिए महाभारत में कहा गया – "लोकोऽयं कर्मबंधनः" (गीता 3.9) – यह संसार कर्म के बंधन से बंधा है, और "न कर्मणामनारम्भान नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते" (गीता 3.4) – कर्मों को किए बिना कर्म-बंधन से मुक्ति नहीं मिलती। कर्म को ही सुख-दुःख का कारण मानकर भारतीय मनीषियों ने दैविक या रैंडम भाग्य की अवधारणा को गौण किया और नैतिक कारणत्व को प्रमुखता दी। अतः कर्म-सिद्धांत मनुष्य को एक ओर नैतिक नियम के अधीन बांधता है, तो दूसरी ओर उसे अपने कर्मों के माध्यम से अपना भाग्य स्वयं बनाने का अवसर भी देता है।

3. नैतिक उत्तरदायित्व और कर्म: दार्शनिक विश्लेषण : कर्म सिद्धांत और **नैतिक उत्तरदायित्व** का संबंध भारतीय दर्शन में अत्यंत घनिष्ठ है। कर्म-सिद्धांत जहाँ एक ओर व्यक्तियों को उनके अपने कर्मफल का वाहक बनाता है, वहीं नैतिक उत्तरदायित्व इस बात पर बल देता है कि व्यक्ति अपने अच्छे या बुरे कर्मों के लिए नैतिक रूप से जवाबदेह है। भारतीय दृष्टिकोण से देखें तो कर्म-नियम के अनुसार मनुष्य अपने कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है – उसे अपने द्वारा किए गए सत्कर्मों एवं दुष्कर्मों का फल अनिवार्यतः भोगना पड़ता है। यही नैतिक उत्तरदायित्व का सिद्धांत है, जिसे भारतीय संदर्भ में ईश्वर अथवा समाज की तुलना में **स्वयं आत्मा** पर केंद्रित किया गया है। अर्थात अंतिम विश्लेषण में न तो ईश्वर और न ही कोई अन्य व्यक्ति हमारे पाप-पुण्य का भार वहन करता है; यह उत्तरदायित्व केवल स्वयं कर्म करने वाले का है। भगवान बुद्ध के उपदेशों में यह बात बहुत स्पष्ट रूप से आती है कि "कोई अन्य तुम्हें पवित्र या अपवित्र नहीं कर सकता; तुम्हारी पाप-पुण्य की शुद्धि तुम्हारे अपने हाथों में है" (धम्मपद 165)। गीता में श्रीकृष्ण यही शिक्षा देते हैं कि मनुष्य को फल की आसक्ति छोड़कर अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए – "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" (भगवद्गीता 2.47)। यह निर्देश अपने आप में नैतिक उत्तरदायित्व की ही प्रतिध्वनि है: अधिकार केवल कर्म पर है, फल पर नहीं – फल ईश्वर या प्रकृति के हाथ में है, किंतु कर्म करने या न करने का नैतिक दायित्व मनुष्य के अपने ऊपर है।

कर्म और नैतिक उत्तरदायित्व के अंतर्संबंध को समझने के लिए यह गौर करना आवश्यक है कि कर्म सिद्धांत व्यक्ति को **नैतिक स्वायत्तता** भी प्रदान करता है। यदि शुभ कर्म का फल शुभ और पाप का फल पाप सुनिश्चित है, तो नैतिक चुनाव का अधिकार और जिम्मेदारी व्यक्ति की अपनी हो जाती है। इसे इस प्रकार भी कहा गया है: कर्म का नियम एक नैतिक ट्रेनिंग की तरह कार्य करता है जो व्यक्ति को संयम से, धैर्यपूर्वक सही आचरण करने को प्रेरित करता है, क्योंकि अंततः **उसे ही अपने कर्मों का फल भोगना**

है। इस व्यवस्था में **उत्तरदायित्व का विकेन्द्रीकरण** हो जाता है – बाहरी दंड या पुरस्कार से अधिक महत्व आत्मप्रेरित नैतिक आचरण को मिलता है। हर व्यक्ति अपना न्यायाधीश स्वयं है क्योंकि उसका कर्मफल उसका अपना भविष्य निर्धारित करेगा। इस दृष्टि से कर्म-सिद्धांत नैतिक उत्तरदायित्व का एक आत्मपरक सिद्धांत प्रस्तुत करता है, जिसमें नैतिक सुधार का आधार भय या बाहरी नियंत्रण न होकर स्वयं का विवेक और आत्मजागरूकता है। जब उपनिषद कहते हैं "पुण्येन पुण्यं भवति, पापेन पापं" तब मूलतः वे व्यक्ति को एक नैतिक चेतावनी दे रहे होते हैं कि अपने उद्धार या पतन के लिए वही जिम्मेदार है।

कर्म सिद्धांत के इस तत्त्व ने भारतीय समाज में नैतिकता का व्यक्तिकेंद्रित आधार स्थापित किया। उदाहरणार्थ, महात्मा गांधी ने गीता के निष्काम कर्मयोग से प्रेरित होकर स्वतंत्रता आंदोलन में अहिंसक कर्तव्यपालन पर जोर दिया – उनके लिए प्रत्येक व्यक्ति का धर्म (कर्तव्य) है कि वह अन्याय के विरुद्ध कर्म करे, फल की चिंता न करे। गांधी इस नैतिक बल के मूल में कर्म सिद्धांत को ही पहचानते थे, जो व्यक्ति को निष्क्रिय भाग्यवाद से निकालकर **कर्तव्यनिष्ठा** सिखाता है। स्वामी **विवेकानंद** ने अपने "कर्मयोग" (1896) प्रवचनों में कर्म को मानव चरित्र निर्माण का साधन बताते हुए कहा था कि प्रत्येक कर्म एक बीज की तरह है जो भविष्य में संस्कार बनकर फल देगा; इसलिए हमें पूरी जिम्मेदारी और ध्यान से कर्म करना चाहिए (विवेकानंद, अध्याय 1)। इन विचारों ने आधुनिक संदर्भ में कर्म सिद्धांत को सामाजिक नैतिक उत्तरदायित्व से जोड़ दिया – सेवा, परोपकार, कर्तव्यपालन को आत्मिक उत्थान से जोड़कर देखा गया। इस प्रकार आधुनिक भारतीय चिंतन में कर्म-सिद्धांत केवल आध्यात्मिक अवधारणा नहीं रहा, बल्कि नैतिक और सामाजिक उत्तरदायित्व को प्रोत्साहित करने वाला व्यवहार-दर्शन बन गया।

4. आधुनिक संदर्भ में पुनर्व्याख्या : आज के वैज्ञानिक और वैश्विक संदर्भ में कर्म सिद्धांत की पुनर्व्याख्या करने पर हम पाते हैं कि इसमें निहित नैतिक संदेश अत्यंत प्रासंगिक है। आधुनिक नैतिक दर्शन जिन समस्याओं से जूझता है – जैसे दीर्घकालिक परिणामों की उपेक्षा, पर्यावरणीय उत्तरदायित्व, नैतिक अनुशीलन में व्यक्तिगत बनाम प्रणालीगत कारकों का संतुलन – उनमें कर्म सिद्धांत संभावित समाधान प्रदान कर सकता है। हाल के एक अध्ययन में प्रतिपादित किया गया है कि विभिन्न हिन्दू दार्शनिक परंपराओं में व्याप्त कर्म-सिद्धांत प्राचीन ज्ञान और आधुनिक नैतिक चिंतन के बीच सेतु का कार्य कर सकता है, विशेषकर नैतिक उत्तरदायित्व के कालिक आयामों के संदर्भ में। कर्म का दर्शन यह समझाता है कि हमारे वर्तमान कर्म न केवल तत्काल प्रभाव डालते हैं बल्कि दूरगामी भविष्य (यहाँ तक कि आने वाली पीढ़ियों या जन्मों) तक को प्रभावित करते हैं – इस प्रकार यह व्यक्तिगत नैतिक जिम्मेदारी को दीर्घकालिक दृष्टि प्रदान करता है (पल्लाथडका और अन्य, 2025)। उदाहरण के लिए, पर्यावरण प्रदूषण या जलवायु परिवर्तन के संदर्भ में यदि हम कर्म-सिद्धांत को रूपक रूप में देखें, तो प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र अपने कर्मों (उत्सर्जन, प्रदूषण) के परिणामस्वरूप फल (जलवायु संकट) भोगते हैं। यह दृष्टिकोण आधुनिक **पर्यावरण नैतिकता** में **उत्तरदायित्व** तय करने के सिद्धांत से मेल खाता है, जहाँ दीर्घकालिक परिणामों के आधार पर नैतिक आकलन किया जाता है।

आधुनिक मनोविज्ञान में भी यह देखा गया है कि जब व्यक्ति अपने कार्यों के परिणामों की जिम्मेदारी स्वयं लेता है तो उसमें सुधार की, परिवर्तन की क्षमता अधिक होती है। कर्म सिद्धांत यही आत्म-जिम्मेदारी प्रोत्साहित करता है। यह मानव को पीड़ित भूमिका से निकालकर कर्त्ता की भूमिका में स्थापन करता है – भले ही परिस्थिति कैसी भी हो, व्यक्ति अपने वर्तमान कर्मों द्वारा भविष्य को बदल सकता है। गीता में कृष्ण का अर्जुन को उपदेश – "उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्" (गीता 6.5) – इसी का द्योतक है कि **मनुष्य को स्वयं ही अपना**

उद्धार करना होता है, कोई अन्य उसके स्थान पर नहीं कर सकता। आज के **स्व-उत्थान** के सिद्धांत भी इसी विचार से मिलते-जुलते हैं कि अपनी दशा के लिए अंततः स्वयं जिम्मेदार बनो। इस प्रकार कर्म के सिद्धांत को आधुनिकीकरण के साथ आत्मविकास, कैरियर, स्वास्थ्य आदि क्षेत्रों में भी रूपक रूप में अपनाया जाने लगा है – "जैसा कर्म वैसा फल" को लोग एक कहावत की तरह जानते हैं, जिसका आशय है कि यदि सकारात्मक परिणाम चाहिए तो सकारात्मक प्रयास करो।

यह भी उल्लेखनीय है कि आधुनिक पुनर्व्याख्या में कर्म को दैव या भाग्य की अंधनिर्भरता से अलग करके नैतिक बल के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। बहुत से विचारक बताते हैं कि कर्म सिद्धांत का सही अर्थ भाग्यवाद या निष्क्रियता को प्रोत्साहित करना नहीं है, बल्कि यह तो व्यक्ति को निरंतर **सचेतन कर्म** करने के लिए प्रेरित करता है। यदि कोई व्यक्ति कठिन परिस्थिति में है, तो कर्म सिद्धांत उसे यह सोचने से रोकता है कि "भाग्य ने ऐसा कर दिया" और उलटे यह समझाता है कि या तो यह परिस्थिति मेरे अपने पूर्वकृत कर्मों का परिणाम है (जिसे मुझे जिम्मेदारी से स्वीकारना है), अथवा यह मेरे लिए वर्तमान में सही कर्म करने का अवसर है ताकि भविष्य सुधरे। दोनों ही सूरतों में ध्यान भाग्य को कोसने पर नहीं बल्कि स्वयं की नैतिक प्रतिक्रिया पर केंद्रित होता है। इस प्रकार वास्तविक कर्म-सिद्धांत व्यक्ति में **सक्रियतापूर्ण उत्तरदायित्व** का संचार करता है। अध्यात्म हो या प्रबंधन, आज निष्काम कर्मयोग के सिद्धांत को इसीलिए आदर्श कार्य-संस्कृति के रूप में देखा जाता है – जहाँ व्यक्ति फल की चिंता छोड़कर कर्तव्यनिष्ठा से कार्य करता है, परंतु अपने कार्यों के परिणामों के प्रति सचेत रहता है (दूसरों पर दोष न मढ़ते हुए)। आधुनिक संगठनात्मक नैतिकता में भी नेतृत्वकर्ताओं से अपेक्षा की जाती है कि वे अपनी भूल-त्रुटि की जिम्मेदारी लें, श्रेय और दोष का उचित वहन करें – यह भावना भारतीय दर्शन के कर्म-सिद्धांत से अनुकूल ही है।

5. विमर्श एवं आलोचनात्मक दृष्टिकोण : हालांकि कर्म सिद्धांत नैतिक उत्तरदायित्व को सुदृढ़ आधार प्रदान करता है, कुछ आलोचनाएँ और चुनौतियाँ भी उभरती हैं। पहली आलोचना यह है कि यदि प्रत्येक घटना पूर्वजन्म के कर्मों से निर्धारित है तो वर्तमान के नैतिक प्रयास का क्या मूल्य? क्या यह सिद्धांत **नियतिवाद** या **भाग्यवाद** को बढ़ावा नहीं देता? इसपर पारंपरिक व्याख्या यह कहती है कि पूर्व कर्मों का फल ज़रूर मिलता है, परंतु वर्तमान कर्मों द्वारा मनुष्य अपनी दिशा बदल सकता है। पूर्व कर्म **प्रवृत्तियाँ** और परिस्थितियाँ पैदा करते हैं, किन्तु **विकल्पों का निर्धारण नहीं करते** – हमारे पास वर्तमान में स्वतंत्र इच्छाशक्ति रहती है जिसके द्वारा हम अपने भविष्य के फल को आकार दे सकते हैं। गीता (18.63) में स्वयं भगवान कहते हैं: "विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु" – पूरे विचार के बाद जैसे तुम्हारी इच्छा हो, वैसा कर्म करो। अर्थात् स्वतंत्र चयन संभव है, इसलिए नैतिक उत्तरदायित्व भी वास्तविक है। इस प्रकार कर्म-सिद्धांत और स्वतंत्र इच्छा परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हैं – कर्म का सिद्धांत यह मानता है कि जीवन अतीत के कर्मों और वर्तमान के प्रयासों का मिश्रित फल है।

दूसरी आलोचना आती है नैतिक दृष्टिकोण से सामाजिक उदासीनता की। कुछ विचारकों ने कहा है कि कर्म-सिद्धांत के चलते लोग दूसरों के दुख को "उसके पूर्वजन्म के पापों का फल" कहकर अनदेखा कर देते हैं, जिससे सामाजिक अन्याय के प्रति असंवेदनशीलता बढ़ सकती है (अंबेडकर, 250)। यह चिंता वाजिब है, पर शास्त्रों का समग्र संदेश ऐसा नहीं है। हिंदू, बौद्ध, जैन – सभी परंपराओं में परोपकार, दया, सेवा को पुण्य कर्मों में गिना गया है, जो अगले जन्मों में सुख देते हैं। अर्थात् यदि कोई पीड़ित है तो उसकी सहायता करना भी हमारा नैतिक कर्म ही है, जो अंततः हमारा और समाज का कल्याण करेगा। इस तरह पीड़ित को उसके कर्मफल पर छोड़ देना स्वयं

एक **अनैतिक कर्म** होगा जिसका फल भविष्य में दोषरूप में मिलेगी। अतः सही परिप्रेक्ष्य में कर्म-सिद्धांत व्यक्ति को अपनी व दूसरों दोनों के प्रति उत्तरदायित्व सिखाता है – स्वयं उन्नति करते चलो और दूसरों की मदद भी करो, तभी पुण्यफल मिलेगा। बौद्ध धर्म में करुणा और जैन धर्म में अपरिग्रह एवं अहिंसा जैसे सिद्धांत इसी संतुलन को दर्शाते हैं कि अपने कर्मों के प्रति उत्तरदायी होने के साथ-साथ हमें समाज के प्रति नैतिक दायित्व निभाने हैं, क्योंकि परस्पर संबद्धता को भी इन दर्शनों ने मान्यता दी है।

अंततः, कुछ दार्शनिक समस्या कर्म और "दुर्भाग्य" की अवधारणा को लेकर भी उठती है। पश्चिमी नैतिक दार्शनिक टॉम नागेल आदि ने प्रश्न उठाया था कि अगर किसी व्यक्ति के जीवन की कई परिस्थितियाँ उसके नियंत्रण से बाहर हैं (जैसे कहां जन्म हुआ, प्राकृतिक आपदाएँ, अनुवांशिक गुण), तो उसके कर्म और फल का पूरा उत्तरदायित्व कैसे तय होगा? भारतीय दृष्टि से इसका उत्तर पुनर्जन्म और कर्म के दीर्घकालिक समीकरण से दिया जाता है – वर्तमान जीवन की प्रारब्ध परिस्थितियाँ भी आत्मा के पूर्वकृत कर्मों का ही भाग हैं, अतः कोई भी तथाकथित "दुर्भाग्य" वास्तव में अकारण या अन्यायसंगत नहीं है, वह भी किसी न किसी कर्म का ही प्रसाद है (ओ'फ्लाहर्टी, 3)। यद्यपि यह तर्क हर समस्या का मनोवैज्ञानिक समाधान नहीं देता, परंतु कर्म-सिद्धांत एक नैतिक आशावाद ज़रूर प्रदान करता है: यदि आज बुरा हो रहा है तो शुभ कर्म द्वारा कल सुधारा जा सकता है। यही आशावाद व्यक्ति को नैतिक रूप से प्रयासरत रहने की प्रेरणा देता है।

6. निष्कर्ष : कर्म सिद्धांत और नैतिक उत्तरदायित्व का संबंध भारतीय दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में अत्यंत गहरा और बहुअर्थी है। इस शोध में हमने देखा कि पारम्परिक भारतीय दर्शन ने कर्म के नियम के माध्यम से एक नैतिक ढांचा विकसित किया, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता और अपने कर्मों के फल का भोक्ता है। इस नैतिक ढांचे ने उत्तरदायित्व की अवधारणा को आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनों धरातलों पर मजबूती दी – आत्मा के मोक्ष से लेकर समाज में नैतिक आचरण तक, कर्म का नियम अनुशासन एवं न्याय का सिद्धांत बना। आधुनिक संदर्भ में कर्म सिद्धांत की पुनर्व्याख्या हमें दिखाती है कि यह प्राचीन अवधारणा न केवल आज भी प्रासंगिक है बल्कि समकालीन नैतिक चिंताओं का समाधान देने में सक्षम है। यह सिद्धांत व्यक्ति को भाग्यनिर्भर निराशा से निकालकर कर्मण्य आशावाद देता है, उसे व्यक्तिगत जिम्मेदारी का बोध कराता है और यही बोध सामूहिक नैतिक सुधार का आधार भी बन सकता है। कर्म सिद्धांत एक ओर हमें चेतावनी देता है कि **प्रत्येक कर्म का परिणाम अपरिहार्य है**, तो दूसरी ओर यह प्रेरणा भी देता है कि **सही कर्म द्वारा भविष्य को सुधारा जा सकता है** – यही नैतिक उत्तरदायित्व का सार है। इस प्रकार, भारतीय दर्शन का कर्म-सिद्धांत आधुनिक नैतिक दुविधाओं के बीच एक दार्शनिक प्रकाश स्तंभ की तरह उभरता है, जो बतलाता है कि नैतिक जगत में कोई भी कर्म तटस्थ नहीं है – हमारी नियति हमारे अपने कर्मों से निर्मित होती है, और नैतिक उत्तरदायित्व इसी सत्य की स्वीकृति और उसके अनुरूप आचरण करने में निहित है।

संदर्भ सूची :

1. **Bhagavad Gita**. The Bhagavad Gita. Translation W. J. Johnson, Oxford University Press, 2008.
2. **Brihadaranyaka Upanishad.** The Principal Upanishads, Translator Sarvepalli Radhakrishnan, Harper-Collins, 1994, pp. 682–715.
3. **Dhammapada**. The Dhammapada. Translated by Juan Mascaró, Penguin Classics, 1973.
4. Chakrabarti, Kisor Kumar, editor. Classical Indian Philosophy: A Reader. Columbia University Press, 2016.

5. Doniger O'Flaherty, Wendy, editor. Karma and Rebirth in Classical Indian Traditions. University of California Press, 1980.
6. Dutt, Harish. "Personality formation through the law of karma in Indian philosophy." Journal of Advances and Scholarly Research in Allied Education, vol. 15, no. 1, 2018, pp. 650–654.
7. Jaini, Padmanabh S. The Jaina Path of Purification. University of California Press, 1979.
8. Pallathadka, Harikumar, et al. "The Concept of Karma Across Different Hindu Philosophical Schools: An Epistemological Bridge to Contemporary Ethics." Journal for Research in Applied Sciences and Biotechnology, vol. 4, no. 2, 2025, pp. 234–239.
9. Reichenbach, Bruce R. The Law of Karma: A Philosophical Study. University of Hawaii Press, 1990.
10. Radhakrishnan, Sarvepalli, translator. The Principal Upanishads. Allen & Unwin, 1953.
11. Sharma, Chandradhar. A Critical Survey of Indian Philosophy. Motilal Banarsidass, 1960.
12. Vivekananda, Swami. Karma-Yoga. Calcutta: Advaita Ashrama, 1896.
13. Zimmer, Heinrich. Philosophies of India. Edited by Joseph Campbell, Princeton University Press, 1951.

•